भारतीय प्राथमिक शिक्षा नीति की समीक्षा : क्या इससे समानता के सवैधानिक उद्देश्यों को बढ़ावा मिला?

शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 को मुख्य तौर पर विभिन्न दृष्टिकोणों से नकारात्मक प्रतिक्रियाओं मिली हैं। ये प्रतिक्रियाएँ प्राथमिक शिक्षा के जन-हित संबंधी प्रावधान और इसे मुहैय्या कराने में राज्य की भूमिका से संबंधित प्रश्नों पर आधारित हैं। इस लेख में प्राथमिक शिक्षा संबंधी नीतियों की ऐतिहासिक समीक्षा करने, "अवसर की समानता" जैसे संवैधानिक उद्देश्य के संदर्भ में जाँचने और 86वें संविधान-संशोधन द्वारा निर्मित शिक्षा के अधिकार के संदर्भ रख कर समीक्षा करने का प्रयास किया गया है। समान्यतः नीतियों की समीक्षा समावेशन की दृष्टि से की जाती है। समीक्षा का यह तरीका पहले भी था और आज भी बना हुआ है। हालांकि एक समान नागरिक के तौर पर शिक्षा के अधिकार तक पहुँच मुहैया कराने में राज्य की नीतियां और क्रियान्वयन प्रणाली किस हद तक वंचित व उपेक्षित परिवारों के बच्चों के सरोकारों व दुविधाओं को ध्यान में रखती हैं। यह शिक्षा जगत की सबसे बड़ी चुनौती है और आज भी यह चिंता का विषय बना हुआ है। बुनियादी शिक्षा के प्रबंध में राज्य की भावी भूमिका के क्या निहितार्थ हैं?

समाज के वंचित वर्गों के बच्चों के लिए समता और शिक्षा पर ध्यान केंद्रित करते हुए यह लेख भारत की प्रारंभिक शिक्षा नीति की समीक्षा करने का प्रयास करता है। वंचित समाज की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सभी को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया कराने के शिक्षा के सार्वजनिक ढांचे को मजबूत करने में राज्य की भूमिका पर प्रकाश डालना ही इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। मुख्य तौर पर यह राज्य के उस खंडित दृष्टिकोण पर सवाल करता है जो समाज के वंचित और उपेक्षित तबके के बच्चों की शिक्षा के लिए घटिया सुविधाएँ मुहैय्या कराने का प्रावधान करता है। सरकारी स्कूली शिक्षा के स्तर को सुधार कर, जहां समाज के सभी वर्गों के बच्चों को 'समान अवसर' खोजे जा सकते थे व उनके सामाजिक और आर्थिक

जीवन को मुख्य धारा से जोड़ने की आवश्यकता पूरी हो सकती थी, वहाँ इस सुधार को करने की बजाय सरकार ने खंडित और विभाजित दृष्टिकोण अपनाया गया। औपचारिक शिक्षा में वंचित वर्गों के बच्चों को आगे बढ़ाने हेतु "प्रोत्साहनों" में असंगत विश्वास जताया गया।

सार्वजनिक स्कूल प्रणाली के भीतर पदानुक्रमों का विकास व अधिक संसाधनों के साथ "मॉडल" स्कूलों के लिए इसे उपलब्ध कराया जा रहा है जैसे सर्वोदय, नवोदय, और केंद्रीय विद्याल। साथ ही निजीकरण के लिए दबाव डाले जाने से शिक्षा में निर्वेशन के विभिन्न रूप और अनेक प्रकार की असमानताएं जुड़ती जा रही है। सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) जो प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए एक सर्वाधिक महत्वाकांक्षी योजना थी, के प्रारूप और कार्यान्वयन में कुछ कमियां थीं, जो शिक्षा के सार्वजनीकरण में विलम्ब का कारण बनें। सर्व शिक्षा अभियान द्वारा एक घटिया किस्म की शिक्षा प्रदान की गई, जिसका प्रभाव अधिकांशतः वंचितों और आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग की शिक्षा पर पड़ा। जिसने असमानता की खाई को अधिक बढ़ा दिया। शिक्षा के सार्वभौमिकरण की मांग अंतत "शिक्षा का अधिकार" अधिनियम के रूप में पूरी हुई परंतु वह भी संसाधनों की कमी के चलते प्रशासनिक और आर्थिक दोनों दृष्टिकोण से धराशाही हो गई।

यह लेख मुख्य तौर पर समता व समावेशन की तर्ज पर राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी दस्तावेजों का यह विश्लेषण करता है कि क्या इस वैचारिक संकल्पनाओं को औपचारिक रूप से व्यक्त किया गया और वास्तविक रूप से क्रियान्वयन के उपलब्ध उपकरणों के रूप में बदला गया है। इन प्रमुख नीतियों के माध्यम से वह इसके शब्दाडंबरो के दोहरेपन और साथ ही साथ नीति-लेखन व क्रियान्वयन के मध्य उस खाई की भी तस्वीर खींचता है जो आज भारतीय शिक्षा नीति की पहचान बन चुके हैं।

"अधिकार-हीन" समूह का तात्पर्य इस आलेख में उन वंचितों से है जिनको प्रारंभिक शिक्षा से वंचित किया गया है, जो उनकी प्रारंभिक शिक्षा के प्रदर्शन संबंधी सूचकांक से प्रकट होता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यह सूची मुख्य रूप से सामान्य तौर पर

स्वीकृत सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित जैसे अनुसूचित जातियों (एससी) की अनुसूचित जनजाति (एसटी), अल्पसंख्यक (विशेष रूप से मुस्लिम); लड़कियों और गरीबों को हाशिए वाली श्रेणियों में रखती है। जैसा भारतीय मानव विकास सर्वेक्षण रपट (2010) में शिक्षा में निहित भारी सामाजिक असमानता का खुलासा किया है जो शिक्षण संस्थाओं में दाखिले दर में अंतर से आरम्भ होकर स्कूल छोड़ने की दर और सीखने के स्तर के अंतर तक जारी रहता है। सर्वेक्षण में पाया गया कि दलित, आदिवासी और मुस्लिम बच्चे "स्कूल दाखिले में बहुत कम रूचि लेते हैं और स्कूल छोड़ने की दर उनमें अधिक रहती हैं"। इस प्रकार जहां उच्च जातियों के 94 प्रतिशत बच्चे और 96 प्रतिशत बच्चे अन्य धार्मिक समूहों से नामांकित होते हैं, वहीं दलितों, आदिवासी और मुस्लिम बच्चों के संबंध में यह क्रमशः 83 प्रतिशत, 77 प्रतिशत और 76 प्रतिशत ही रहा।

विभिन्न राज्यों के सन्दर्भ में स्कूल छोड़ने वालों की दरों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि दलितों, आदिवासियों और मुस्लिम बच्चों की स्कूल छोड़ने की दर उच्च जातियों की तुलना में कहीं अधिक है (पेज 79)। उदाहरण के तौर पर दलित पुरुषों में यह आंकड़ा इस प्रकार है :

20 प्रतिशत दलित पुरुष तो नामांकन ही नहीं कराते। जो नामांकन कराते हैं, उनमें से 15 प्रतिशत कक्षा पाँच तक पढ़ाई पूरी करने के पूर्व ही पढ़ाई छोड़ देते हैं, जो कक्षा पाँच तक पढ़ाई पूरी करते हैं, उनमें से 50 प्रतिशत कक्षा दस की पढ़ाई पूरी करने के पूर्व ही स्कूल छोड़ देते हैं, बाकी जो कक्षा दस तक की पढ़ाई पूरी करते हैं, उनमें से 43 प्रतिशत कक्षा बारह की पढ़ाई पूरी करने से पूर्व ही पढ़ाई छोड़ देते हैं, जो कक्षा बारह तक की पढ़ाई पूरी करते हैं, उनमें से 44 प्रतिशत कोई कालेज की डिग्री या डिप्लोमा हासिल नहीं कर करते। एक अपवाद के साथ लड़कियों की स्थिति भी इसी प्रकार बुरी है। लड़कियों को प्रारंभिक नामांकन के समय भी बहुत सी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है - नतीजन 40 प्रतिशत का कभी दाखिला ही नहीं होता ..... (पृष्ठ.80)

इन बच्चों के ज्ञान (सीखने) का स्तर भी इसी रूप में उभरता है "उच्च जाति के हिन्दू और अन्य धार्मिक समूहों के 70 प्रतिशत से अधिक बच्चे एक छोटे वाक्यांश को पढ़ पाए। वहीं यह आंकड़ा दलितों, आदिवासियों और मुस्लिम बच्चों में 44 से 46 प्रतिशत के बीच ही का रहा (पृष्ठ 80)।

सामाजिक तौर पर स्वीकृत वंचित समूहों के अतिरिक्त लेख में वंचित समाज की कुछ नयी श्रेणियों पर भी ध्यान दिया गया है, जैसे सड़क पर रहनेवाले व आश्रय विहीन बच्चे, खानाबदोश परिवारों के बच्चे, युद्ध-क्षेत्रों में पल रहें बच्चे, विशेष जरूरतमंद बच्चे और वह बच्चे जो एचआईवी या एड्स से पीड़ित हैं। चूंकि इन समूहों से संबंधित वास्तविक सूचना उपलब्ध नहीं है इसीलिए इस कमी पर भी इस लेख में विशेष चर्चा की गयी है।

यह लेख मुख्य रूप से पांच भागों में विभक्त किया गया है। लेख के पहले भाग हिस्से में शिक्षा नीति पर स्वतंत्रता प्राप्ति एवं सविधान के गठन तक के वर्षों की स्थिति पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। यह संविधान में शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिए जाने तक के सफर की जांच भी यह हिस्सा करता है। दूसरा हिस्सा शिक्षा की राष्ट्रीय नीतियों (1968 और 1986) और वर्ष 1992 की क्रियान्वयन की योजना से रूबरू कराता हैं। तीसरा हिस्सा सर्व शिक्षा अभियान और इसके सहसंबंधी, विशेषकर राष्ट्रीय पाठ्यक्रम संरचना (एन सी ऍफ़ 2005) और शिक्षा हेतु जिला सूचना प्रणाली (डीआईएसई) का परिक्षण करता है। लेख का चौथा हिस्सा शिक्षा का अधिकार कानून (आरटीई 2009) समालोचनात्मक समीक्षा करता है और अंतिम हिस्सा जन हित हेतु शिक्षा के प्रसार में राज्य की भूमिका की आवश्यकता को दुहराने के साथ प्रत्येक वंचित समुदाय की जरूरतों से संबंधित बारीक व गहरी समझ को विकसित करने की मांग की गई है जिसमें बेहतर तरीके से जानकारी एकत्र करने के प्रयास भी शामिल है। वंचित समाजों के लिए सार्वभौमिक शिक्षा व्यवस्था के ढांचे के भीतर विशिष्ट

सहयोग की अवश्यकता और अंत में शिक्षा क्षेत्र के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों की पूर्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

1 - अवसर की समानता

आरम्भ के वर्षों के संदर्भ में यह कहना ठीक ही होगा कि भारत में शिक्षा नीति का इतिहास उतार-चढ़ाव का रहा। वास्तव में शिक्षा सम्बन्धी नीति की पहली अभिव्यक्ति वर्ष 1835 में मिली। जिसे आम भाषा में 'मैकाले-विवरण' के नाम से जाना गया, जिसमें भारतीय शिक्षा पद्धति की जगह आंग्ल (अंग्रेजी) पद्धति लाये जाने की सिफारिश की गई थी। इसका आधार यह था कि आंग्ल शिक्षा का विचार एक उच्च किस्म की शिक्षा देना होगा, जो लोगों में इस मूल्य को स्थापित करने के लिए उत्तरदायी होगा कि अंग्रेज जाति एक श्रेष्ठ जाति है। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसे लोगों के वर्ग की रचना में सहयोग करेगा जो रक्त और रंग से भारतीय होंगे, किन्तु अभिरुचि, विचार, नैतिक मूल्य और बुद्धि में अंग्रेज। इसी समझ ने संभवतः भारतीय स्वदेशी ज्ञान की तुलना में शिक्षा के सार्वभौमिक मानकीकरण सम्बन्धी बहस में आरंभिक दलील दी जो कई वर्षों तक चलती रही और आज भी वंचित समाजों की शिक्षा संबंधी बहस का एक हिस्सा है। किन्तु इसके पहले कि इस प्रकार की बहसें मुख्य स्थान ग्रहण करतीं, उससे पहले ही शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर दिशा प्रदान करने हेतु कमोबेश आठ 'आयोग' 19वीं सदी के मध्य से 1950 के आरम्भ तक स्थापित किये गए।

इन आयोगों की रपटें उस समय जब इनको लिखा जा रहा था, तब की सामाजिक व मानसिक स्थिति की परख करते हुए बेहद दिलचस्प व्याख्या प्रदान करतीं हैं। एक बात जो खास तौर पर निकाल कर आती है वह यह है कि किसी भी आयोग ने प्रारंभिक शिक्षा और वंचित समाजों की शिक्षा के बिंदु को नीतिगत विमर्श के लिहाज से विचारणीय नहीं समझा। वास्तव में, 1952 में मुदालियर कमेटी रिपोर्ट 1952 नारी शिक्षा का जिक्र किया, जो एक अपवाद कहा जा सकता है। किन्तु यहां पर भी समानता देने में एक वर्गीकृत दृष्टिकोण को अपनाया गया क्योंकि यह रपट कहती है नारी शिक्षा के जरिये राष्ट्र-निर्माण में उनके

सहयोग को प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु ठीक इसी समय यह भी स्पष्ट किया गया है कि नारी-शिक्षा में घरेलू विज्ञान के लिए विशेष निर्देश हों।[1] कमजोर लिंग के तौर पर आयोग द्वारा विशेष सुविधाओं का सुझाव देते हुए कहा गया कि .... "लड़कियों के लिए जरूरी सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए ... जैसे विश्राम कक्ष ... आदि।"

हालांकि जनसंख्या के वृहत अनुपात में सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर समूहों के लिए न तो कोई विशेष प्रावधान या सुविधाओं के लिए दावा नहीं किया गया न ही कोई शिक्षा नीति अपनायी गई, जिसे अपनाया जाना चाहिए था। दरअसल, प्राथमिक शिक्षा के प्रति ये रवैया उस काल के नीति बहिर्वेशन मानसिक स्थिति को प्रदर्शित करता है। तकनीकी शिक्षा केंद्र व अन्य संस्था स्थापित करने की आवश्यकता के जरिए उच्च शिक्षा पर बल दिया गया ताकि विकास और औद्योगीकरण के लिए हो रहें प्रयासों को मदद पहुंचाई जा सके परंतु इन सब प्रयासों में उन लोगों की आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई जो इस विकास योजना में सहयोग नहीं कर सकते थे। इनके बजाय उन लोगों पर ध्यान दिया गया जो पहले से ही प्रारंभिक शिक्षा के दायरे में थे और जिनको उस समय के विकास हेतु आर्थिक कार्यक्रम में सम्मलित किया जा सकता था। ऐसा लगता है 1947 के बाद भी नीति निर्धारकों द्वारा उन लोगों को आगे लाने का प्रयास नहीं किया गया जो सामाजिक, आर्थिक व भोगौलिक बहिष्करण के चलते कई पीढ़ियों से शिक्षा की बुनियादी पहुँच तक से दूर थे। इसके बावजूद 1950 में निर्मित भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय और कल्याण के सिद्धांतों को शामिल किया गया है। समान्यतः लंबे समय से शिक्षा की अनदेखी की जा रही है और विशेषकर वंचित वर्गों तक बुनियादी शिक्षा के सार्वभौमिकीकरण में रुकावट के बीज बोए गए हैं, जो आज भी हैं।

संवैधानिक अनिवार्यता

1

संविधान सुस्पष्ट तौर पर सामाजिक न्याय और सभी नागरिकों के लिए समानता के विचार के प्रति प्रतिबद्ध है। इसी प्रकार वंचित समाजों और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के साथ इनके अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य के उत्तरदायित्वों के प्रति भी संविधान प्रतिबद्ध है। इसे संविधान की भूमिका के प्रारूप में रखा गया है। यह संविधान के आधारभूत और अपरिवर्तनीय ढांचे की नींव रखता है, जो भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए आत्म-सम्मान, स्वतंत्रता और समानता के अधिकार को पाने के उद्देश्य, विशेष तौर पर अवसर की समानता और गरिमापूर्ण जीवन को सुनिश्चित करता है। अवसर की समानता का बिंदु हालांकि विमर्श के लिए खुला हुआ है क्योंकि इसकी विस्तृत व्याख्या इसमें शिक्षा के प्रावधान को सम्मिलित करती है, जिसे हैसियत (स्टेटस) की समानता की सुरक्षा के महत्वपूर्ण घटक के रूप में देखा गया है।

संविधान के अन्य दूसरे कई भागों में भी सामाजिक समानता के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 39 में सामाजिक न्याय और कल्याण के अवसरों के प्रोत्साहन के लिए राष्ट्रीय नीति की भूमिका की रूपरेखा स्पष्ट की गई है। अनुच्छेद 45 विशेषकर प्रारंभिक शिक्षा के सन्दर्भ में है। अनुच्छेद 19 में बोलने और अभिव्यक्ति के अधिकार का प्रावधान है, जिसे जानने के अधिकार के रूप में परिभाषित किया गया है। अनुच्छेद 29 अल्पसंख्यकों की शिक्षा और सांस्कृतिक अधिकार की रक्षा करता है और अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यकों को शिक्षा संस्थान खोलने और उनके प्रशासन की अनुमति देता है। लेकिन संभवतः संविधान के सिद्धांत के रुप में शिक्षा को प्रोत्साहन न्यायविद पी एन भगवती द्वारा अनुच्छेद-21 'जीने का अधिकार' की व्याख्या में मिला, जो उनकी टिप्पणी से व्यक्त होता है:

> "जीने का मौलिक अधिकार, जो मनुष्य का सबसे मूलयवान अधिकार है, और जो सभी अधिकारों के लिए वृत्त खंड बनाता है, की व्याख्या अवश्य ही एक वृहत और विस्तृत भाव में की जानी चाहिए, ताकि इसकी शक्ति और महत्ता नियत की जा

सके, जो आने वाले कई वर्षों तक मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता और व्यक्ति के आत्म -सम्मान को बढ़ाने में दृढ रहे। हम सोचते हैं कि जीने के अधिकार में, आत्म-सम्मान के साथ जीना सम्मिलित है, और इसी के साथ यह भी जुड़ जाता है कि जीने की मूलभूत आवश्यकताएं जैसे पर्याप्त पोषण, वस्त्र और आश्रय और पढ़ने लिखने और अभिव्यक्ति की सुविधाएँ शामिल है, जिससे व्यक्ति स्वयं को अनेक तरह से अभिव्यक्त करने में स्वतंत्र रुप से इधर-उधर जा सके, अपने साथियों में घुल-मिल सके (कोरेली मुलिन बनाम प्रशासक संघ राज्य दिल्ली)"

इस व्याख्या ने शिक्षा को मौलिक अधिकारों की सूची में सम्मलित करने का आधार प्रदान किया और उन्नीकृष्णन के ऐतिहासिक मामले ने इसकी विश्वसनीयता और बढ़ा दी, जिसमें संविधान पीठ ने यह कहा :

"14 वर्ष तक के बच्चों के लिए शिक्षा उनके मौलिक अधिकार में आएगी, इसलिए यह राज्य का एक उत्तरदायित्व होगा कि संविधान की धारा 39(इ) और (एफ़) में दी गयी सुविधाएँ और अवसर उपलब्ध कराएं तथा गरीबी व आर्थिक उतार-चढ़ाव के कारण बचपन के शोषण को प्रतिबंधित किया जाए" (जे पी उन्नीकृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य जे टी 1993(1) एस सी 474)

शिक्षा नीति के विकास और क्रियान्वयन के तरीकों की संकल्पनाओं में संवैधानिक मजबूती निहित होती हैं, जबकि सार्वजनिक शिक्षा के रूप में बुनियादी शिक्षा का विचार सार्वभौमिक रूप से सकारात्मक निर्गतों के कारण स्वीकार किया जाता है। इसके प्रावधान अपरिहार्य है और क्योंकि इसकी उपलब्धता की लागत हाशिया वर्ग के लिए बेहद कम है (प्रतिद्वन्दितावीहीन गुण के कारण)। राज्य की भूमिका विशेष रूप से ऐसे मामलों

में अधिक मजबूत है जहां गरीबी और सामाजिक वंचना इस आबादी के वर्गों के लिए निजी प्रावधान तक पहुंचने को मुश्किल बनाते हो।

2 शिक्षा सम्बन्धी प्रथम दो राष्ट्रीय नीतियां

(अ) एनपीई 1968 और एनपीई 1986 : संविधान निर्माण के दो दशक बाद पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति का प्रतिपादन विगत वर्ष 1968 में किया गया। कोठारी जी की अध्यक्षता में बने शिक्षा आयोग की अनुसंशाओं जिसकी रपट 1966 में पेश की गई, का अनुसरण किया गया। हालांकि इस रिपोर्ट में "सामाजिक एकजुटता और राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ाने" हेतु एक समान स्कूल प्रणाली का स्पष्टता से उल्लेख किया गया था। "निर्धन परिवारों " के बच्चों के लिए "मुफ्त छात्रवृति" दिए जाने के अतिरिक्त इसे किस प्रकार अमल में लाया जायेगा, इस पर कोई सुझाव नहीं दिए गए। बालिका-शिक्षा पर जोर दिया गया, सीडब्लूएमएस (चिल्ड्रन विथ स्पेशल नीढ) को सामान्य स्कूलों के भीतर लाते हुए मुख्य धारा से जोड़ने के उद्देश्य का भी जिक्र किया गया। हालांकि इससे जुड़ी कोई विशेष नीति या योजना का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार, 1968 की राष्ट्रिय शिक्षा नीति (एनपीई) ने शिक्षण अवसरों की बराबरी की आवश्यकता को बेशक स्वीकार किया, परंतु बिना किसी आर्थिक और संगठनात्मक संरचना की मदद व योजना के अभाव में यह नीति अपेक्षित रूप से प्रभावी न हो सकी।[2] आर्थिक मदद के अभाव का जिक्र अगली शिक्षा नीति (1986) में समीक्षा के समय इसे शिक्षा की गुणवत्ता, पहुँच और उपयोगिता से जोड़ कर एक बड़ी कमी के तौर पर इंकित किया गया (एनपीई मानव संसाधन विकास मंत्रालय)। इस प्रकार, राष्ट्रीय शिक्षा नीति का पहला प्रयास कुछ मुख्य सिद्धतों से तय करने से आगे न बढ़ सका।

अगली राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में बनी और 1992 में पीओए (प्लानिंग ऑफ एक्शन) के साथ इसका पुनरीक्षण कर प्रभावी बनाया गया। इससे बुनियादी शिक्षा की ओर

2

ध्यान दिए जाने को बढ़ावा मिला किन्तु इसका आधार इस धारणा पर रहा कि वंचित और गरीब समाज के बच्चों में शिक्षा के प्रति रूचि की कमी है। इसलिए, आबादी के वह वर्ग जो पहुँच से बाहर था, उन तक भौतिक पहुँच में वृद्धि हुई किन्तु उनकी शिक्षा की मांग को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारणों पर बहुत कम ध्यान दिया गया। दुर्भाग्यवश, शिक्षा की गुणवत्ता की कीमत पर भौतिक पहुँच बढ़ाये जाने के प्रयास किये गए। जिससे शासन मानसिकता की संभ्रांतवादी प्रवृत्ति रेखांकित होती है। जिसके कारण गरीब और वंचित वर्ग के बच्चों के लिए निम्न स्तर की सुविधाएँ स्वीकृत की गयी।

फिर भी, एनपीई (1986/1992) ने अपनी पूर्ववर्ती रिपोर्ट से कुछ आगे बढ़ाकर समानता को प्राप्त करने हेतु योजना में कुछ कदम आगे बढ़ाये, जिसे "समानता के लिए शिक्षा " कहा गया। मसलन, रिपोर्ट में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन-जाति के बच्चों, अल्पसंख्यकों, लड़कियों और शैक्षिक रूप से अन्य पिछड़े वर्गों तथा सीडब्लूएसएन (जिन्हें विकलांग कह कर सम्बोधित किया गया) की शिक्षा पर अलग से चर्चा की गयी। दूसरा, शिक्षा हेतु योजना बनाने और उसके प्रबंधन में विशेषकर महिलाओं और जन-मानस की सहभागिता की विशेष चर्चा की गयी। इसमें "उत्तरदायित्व के सिद्धांत को उद्देश्यों और मानकों के संदर्भ में" स्थापना की भी बात कही गई।

निम्नलिखित मूल हस्तक्षेप के जरिए हर एक वंचित समूह के सम्बन्ध में विशिष्ट सुझाव प्रदान किए गए।

(1) अनुसूचित जाति/जनजाति और शैक्षिक तौर पर अन्य पिछड़े बच्चों को प्रोत्साहन

(2) अनुसूचित जाति के बच्चों के लिए पृथक छात्रावास और जन जातीय बच्चों के लिए आश्रम की व्यवस्था

(3) अनुसूचित जातियों के पड़ोस में तथा जन जातियों के लिए उनके ही क्षेत्र में स्कूल की स्थापना

(4) जनजातीय संस्कृति और "तटस्थ प्रतिबिंबित अल्पसंख्यकों" को शामिल करते हुए पाठ्यक्रम में सुधार तथा लड़कियों को देखते हुए पाठ्यक्रम की पुनर्रचना

(5) अनुसूचित जातियों के बच्चों की प्रतिभागिता और राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ाने के लिए अल्पसंख्यक पृष्ठभूमि से आए बच्चों को एकीकृत करने हेतु उन्नत तरीकों की पहचान करना

(6) महिला अध्यापकों की 50 प्रतिशत तक भर्ती और अनुसूचित जाति से अध्यापकों की भर्ती के लिए जोर दिया जाना

(7) अनुसूचित जाति और जनजातियों के बच्चों के लिए नवोदय स्कूलों में आरक्षण की व्यवस्था

दुर्भाग्यवश, इन हस्तक्षेपों का अपेक्षित प्रभाव निम्नलिखित कारणों से नहीं रहा : (अ) आर्थिक अभाव और कमजोर प्रशासन का बने रहना; (ब) जनजाति के बच्चों के लिए बनाये गए पृथक स्कूल और छात्रावास निम्न गुणवत्ता का होना; (स) पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुधार पुराने संशोधनवादी पद्धति पर आधारित रहा, जो जनजातीय संस्कृति और अल्पसंख्यकों को रचनात्मक रूप से प्रतिबिंबित करने में असफल रहा; (द) डाइट (जिला स्तरीय प्रशिक्षण संस्थान) में अध्यापन कार्य हेतु प्रशिक्षण की नयी व्यवस्था भी परम्परागत अध्यापन-कला के पुराने तरीकों से लेस रहे और ये साम्प्रदायिकता, लिंग-भेद तथा वंचित हो रहे लोगों की समस्याओं को निपटने में असमर्थ रहीA विभिन्नता की विषमताओं को संकीर्णता के आवरण में रख कर देखा गया, जिससे राष्ट्रीय एकीकरण की भावनाओं को समेकित करने के बजाय और दूरियां बढ़ाने वाला बना दिया गया, किन्तु सबसे अधिक यह हुआ कि इसका कार्य-क्षेत्र सीमित हो गया, जो दृष्टिकोण में परिवर्तन और सम्पूर्ण प्रणाली में गुणवत्ता लाये जाने के बजाय विभिन्नता से जूझ रही शिक्षा प्रणाली में छुट-पुट प्रयास किये जाने तक रहा।

इसके अतिरिक्त, शिक्षा हेतु अधिक संसाधन और शिक्षा को उच्च प्राथमिकता दिए जाने के बजाय वास्तव में सरकार द्वारा लागत कम करने और गुणवत्ता गिराने के उपायों पर कार्य किया गया जैसे एजुकेशन गारंटी केन्द्रों (ईजीसी) की स्थापना करना

और "पैरा-टीचर्स" की नियुक्ति करना। इन दोनों के लिए गुणवत्ता या प्रशिक्षण के किसी निर्धारित मानक मानना आवश्यक नहीं था। पैरा टीचर्स की योग्यताएँ निर्धारित मानकों से कम थी और कम योग्यता के चलते न तो वेतन अधिक दिया जाता था और न ही बच्चों के शिक्षण के चुनौतीपूर्ण कार्य को करने के लिए कोई प्रोत्साहन था। दरअसल कई पैरा टीचर्स अपनी पीढ़ी का पहले शिक्षित व्यक्ति थे। इसने शिक्षा की गुणवत्ता को तेजी से गिराने और सार्वजानिक स्कूलों से बच्चों के पलायन को बढ़ाने का कार्य किया।

(ब) सार्वजानिक स्कूल प्रणाली के अंतर्गत पहुँच के अनेक स्तरों का निर्माण

इस अवधि में, पर्याप्त संसाधनों की कमी उन मुख्य कारणों में से एक थी जिसके कारण सार्वजानिक शिक्षा की गुणवत्ता बड़े स्तर पर प्रभावित हुई। इस क्षेत्र के लिए सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) के मात्र 3 प्रतिशत की व्यवस्था की गई (जबकि कोठारी आयोग ने 1966 में 6 प्रतिशत की सिफ़ारिश की थी) जिसके परिणामस्वरूप स्कूली शिक्षा प्रणाली के भीतर पदानुक्रम का विकास हुआ। यह दो क्षेत्रों में स्पष्ट तौर पर उभरा। एक ओर निम्न गुणवत्ता के चलते प्रारम्भिक शिक्षा सार्वजनिक प्रावधान से बाहर निकली और निजी स्कूल प्रणाली का विकास तेजी से हुआ। दूसरी तरफ सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत ही शिक्षण की विभिन्न श्रेणियाँ विकसित की गयी।

शासकीय प्रणाली के भीतर भी विभाजनों ने दो रूप लिए। एक विभाजन शिक्षा विभाग के अतिरिक्त अन्य विभागों द्वारा शिक्षा से निकलने वाली नीतियों को कार्यान्वित करने में किया गया। यह उस रणनीति का हिस्सा था जिसमें उत्तरदायित्व अन्य विभागों की ओर बढ़ाये जाने थे जैसे सामाजिक न्याय, जनजाति कल्याण और अल्प-संख्यकों के मामले, जो इन खास समाजों के लोगों को केंद्र में रखते थे। इन विभागों ने जनजातीय बच्चों के लिए स्कूल खोले (आश्रम स्कूल) और दलित तथा अल्पसंख्यक बच्चों को वजीफे उपलब्ध कराए। हालांकि, मजबूत एमएचआरडी की तुलना में ये बहुत कम संसाधनों थे, जो बेहद कुछ करने योग्य नहीं थे। वास्तव में, आश्रम स्कूलों की समीक्षा में यह सामने आया कि इन संस्थाओं में शिक्षा का

अत्यधिक निम्न स्तर बना रहा, मसलन के सुजाता (2002) ने *इंडिया एजुकेशन रिपोर्ट* में जानकारी दी है :

> "जनजाति-बच्चों की शिक्षा हेतु योजना के स्तर पर जो बड़ी कठिनाइयाँ रहीं, उनमें से एक प्रशासनिक स्तर पर दोहरी प्रणाली अपनाना था। जनजाति कल्याण विभाग जनजातियों के जीवन और संस्कृति का कार्य देखता है और स्थानीय स्तर पर विकास कार्यों की व्यवस्था करता है, जिसमें शिक्षा भी शामिल है किन्तु जनजाति कल्याण विभाग शिक्षा की योजना बनाने और उसके सामान्य प्रशासन, और शैक्षिक निरीक्षण तथा खास निगरानी की दक्षता नहीं रखता। दूसरी ओर राज्य स्तर पर शिक्षा विभाग, शिक्षा के विकास की योजना बनाने का अनन्य अधिकारी है। यह क्रियान्वयन सम्बन्धी दिशा-निर्देश और पाठ्यक्रम सम्बन्धी निर्देश, पाठ्य पुस्तक, अध्यापकों की भर्ती, इनके स्थानांतरण की नीतियां, इत्यादि का निरूपण भी करता है"।

मुस्लिम समुदायों के बच्चों की शिक्षा के लिए व्यवहार्य विकल्प के रूप में मदरसों के आधुनिकीकरण की नीति, अपर्याप्त रूप से संसाधनों की समान समस्याओं से पीड़ित है। इस वास्तविकता के बजाए यह मुख्यधारा से पृथक करने की स्थिति को बढ़ावा देता है। इससे भी बदतर यह है कि जिम्मेदारियों का स्थानांतरण ऐसा रहा है कि इन विभागों और शिक्षा विभागों के बीच अभिसरण या यहां तक कि एक स्वस्थ वार्तालाप तक नहीं हो सका। इस प्रकार का कोई समान मंच भी नहीं है जहां पर वंचित हो गए समूहों के बच्चों की शिक्षा को शासन के विभिन्न विभागों द्वारा स्पष्ट रूप से सम्बोधित किया जा सके, चर्चा की जा सके या समन्वित किया जा सके। परिणामस्वरुप वंचित वर्गों के बच्चों को निम्न गुणवत्ता की सेवाएं उपलब्ध कराये जाने के अतिरिक्त इस नीति ने समाज के विभिन्न वर्गों को शिक्षा उपलब्ध कराने में "पदानुक्रम" के सृजन में योगदान किया।

दूसरा विभाजन स्वयं सार्वजानिक प्रणाली में आया, तथा-कथित "आदर्श "स्कूल जैसा सर्वोदय और नवोदय स्कूल स्थापित किये गए (जो वर्तमान संसाधन युक्त केंद्रीय विद्यालयों के अतिरिक्त थे, जो खास वर्ग के बच्चों की आवश्यकताओं का ध्यान रखते थे), जबकि नियमित सार्वजानिक स्कूलों की संख्या की ओर ध्यान नहीं दिया गया, जहां भारत के अधिकांश बच्चे और सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर समूहों के लगभग सभी बच्चे भेजे जाते थे। इन विशेष स्कूलों में जो तथाकथित गुण संपन्न बच्चों के लिए थे (केंद्र सरकार के कर्मचारियों के बच्चों के लिए) के लिए शिक्षार्थी व्यय अन्य स्कूलों की तुलना में कहीं अधिक था। सार्वजानिक स्कूलों में जहां प्रति शिक्षार्थी औसत व्यय 4,269 रुपए (2011-12) था, वहीं सर्वोदय विद्यालयों में यह 8,000 रुपए से 10,000 की सीमा में था और केंद्रीय विद्यालयों में यह 13,000 रुपए से भी कहीं अधिक था। यह राशि सार्वजानिक स्कूल में किये जा रहे व्यय का तीन गुना था। इस असमानता को उचित सिद्ध करने के लिए दिया गया तर्क यह था कि यह उन अति गुण-संपन्न बच्चों के लिए इन स्कूलों में पढ़ने का अवसर प्रदान करते थे जिसे वे अन्यथा नहीं पाते और अपनी क्षमता को पूरी तरह प्राप्त नहीं कर पाते। जबकि आरटीई एक्ट ने बच्चों की प्रारंभिक वर्षों में जांच किये जाने पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाया हुआ था, फिर भी ऐसे स्कूल लगातार इन जाँचों को बढ़ावा देते रहें। अवसर की समानता सम्बन्धी संवैधानिक व्यवस्था का खुल्लम-खुल्ला अंतर्विरोध इससे अधिक कहीं उजागर नहीं हो सकता।

1990 के दशक में देश के सभी कोनों से शिक्षा की मांग में भारी वृद्धि के साथ-साथ स्कूल प्रणाली के भीतर विभाजन की रेखाओं का विस्तार हुआ। यह सरकार की असंतुलित नीतियों के कारण और विशेष रूप से गरीबों की शिक्षा को प्राथमिकता कम देने के कारण हुआ। परिणामस्वरुप निजी स्कूल उद्योग को भारी प्रोत्साहन और सार्वजानिक स्कूल प्रणाली से दूर हटने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला। किन्तु सबसे हानिप्रद यह रहा कि इसने सार्वजानिक स्कूल प्रणाली के अंतर्गत पदानुक्रम की नींव रखी। यह नींव खराब विभागों के लिए बाहरी स्रोतों

से उत्तरदायित्वों की पूर्ति कराकर और उनको स्वयं कार्यशील बनाने में लापरवाही करके डाली गई।

3. सभी के लिए शिक्षा

शताब्दी के अंत तक, भारत में मानव विकास के निम्न स्तर पर पड़ रहा प्रकाश, उस स्वरुप के बिलकुल विपरीत था, जिसमें इसे विश्व के आर्थिक परिदृश्य में 'सोते हुए शेर 'के सादृश्य माना गया। घरेलू सीमाओं के भीतर से भी प्रारंभिक शिक्षा की गुणवत्ता और पहुँच में सुधार लाये जाने का दबाव बन रहा था। डाकर सम्मलेन (2000) और सभी के लिए शिक्षा की प्रतिबद्धता ने भारत सरकार को शिक्षा की सबसे महत्वकांक्षी योजना लाये जाने का अग्रणी बनाया - जिसके चलते 2001 एसएसए (सर्व शिक्षा अभियान) लाया गया।

इसे भारत में शिक्षा के क्षेत्र में मिलिनियम डेवलपमेंट गोल्स (एमडीजी) की पूर्ति का वाहक समझा गया। फिर भी आर्थिक वृद्धि और सामाजिक न्याय के प्रतिस्पर्धी लक्ष्यों में से दूसरे लक्ष्य ने पीछे रहना उचित समझा क्योंकि अपने 'उभरते हुए बाजार' की धारणा को बनाये रखने में पहल की गयी। जबकि बड़ी धूम धाम से एसएसए प्रारम्भ किया गया था और योजना का शब्दाडम्बर इसके सार्वभौमिक शिक्षा की प्राप्ति की प्रतिबद्धता को प्रतिबिंबित करने लगा, इस योजना की रूपरेखा जिस प्रकार बनायीं गयी, उसमें मुलभुत कमियां रह गयीं थीं।

पहली कमी, सर्व शिक्षा अभियान केंद्रीय प्रायोजित योजना के रूप में अभिकल्पित की गयी, जिसका प्रशासन शासकीय प्रशासनिक संरचना के समानांतर एक संस्था के रूप में किया गया। परिणामस्वरुप प्रारंभिक शिक्षा उपलब्ध कराये जाने के लिए दो प्रक्रियाएं की गयीं। शिक्षा निदेशालय, जो "स्थायी" शिक्षा संवर्ग के रखरखाव के लिए उत्तरदायी है (अद्ध्यापकों को शामिल करते हुए), निरीक्षण कराने, कुछ अद्ध्यापकों के प्रशिक्षण, मध्यान्ह

भोजन व्यवस्था, आंकड़ों का संग्रहण, वितरण (वेतन, प्रोत्साहन, पेंशन आदि), और सर्व शिक्षा अभियान, जो योजनाओं के कार्यान्वयन और तथाकथित "अकादमिक सहयोग" के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार के विभाजन से उत्तरदायित्वों और जवाबदेहीता के मामले में भ्रम पैदा हुआ। इसके अतिरिक्त इन दोनों के मध्य समन्वय यदि कोई हो सकता था, तो बहुत कम था। परिणामस्वरुप कभी दोनों के कार्यों में विरोधाभाष पैदा हो जाता जैसे अद्ध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था दोनों संस्थाओं द्वारा अलग से प्रायोजित की जाती, निगरानी भी इसी प्रकार दोनों के द्वारा की जाती जो आपस में मेल नहीं खाती। विभाग निरीक्षण करता, जबकि सर्व शिक्षा अभियान निगरानी कर संयुक्त समीक्षा (जेआरएम) करता। जिससे दोनों में ही आगे की जांच के सम्बन्ध में स्पष्टता नहीं रह पाती। अब, एनसीपीसीआर (बच्चों के अधिकार के संरक्षण का राष्ट्रीय आयोग) को शिक्षा के अधिकार की निगरानी का क़ानूनी अधिकार मिल गया। इस तरह एक तीसरी संस्था जोड़ दी गयी है, जहां वैसी ही समन्वय की कमी थी वहाँ इस व्यवस्था ने सम्पूर्ण निगरानी की प्रक्रिया को हास्यास्पद बना दिया है।

दूसरी कमी, सर्व शिक्षा अभियान के लिए की गयी व्यवस्थाओं से जितनी उम्मीद थी उससे बेहद कम ही उसका योगदान रहा। केंद्र प्रायोजित योजना होने के कारण अधिकांश धन की व्यवस्था केंद्र सरकार से होती, जिसमें राज्य सरकारों द्वारा पूरक अनुदान दिया जाता। इस व्यवस्था के कारण केंद्र द्वारा अत्यधिक कठोर और अनम्य वित्तीय मानदंडों के अंतर्गत धनराशि उपलब्ध करवायी जाती। इस प्रकार, एमएचआरडी (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) द्वारा निर्दिष्ट राशि इन मानदंडों के अनुरूप होतीं और इनको जिले द्वारा अनियंत्रित और अ-पारदर्शी ढंग से खण्डों, पंचायतों और स्कूलों को वितरित किया जाता। इस कारण, यदयपि स्कूलों द्वारा योजनाएं अपनी आवश्यकताओं पर आधारित करके भेजीं जातीं, परन्तु बिरले ही उनकी पूर्ति हो पाती, यह केवल एक संयोग या फिर राजनैतिक संरक्षण के कारण ही होता। इसके अतिरिक्त धनराशियों के वितरण में हुआ विलम्ब स्कूलों को इनके सर्वोत्तम उपयोग

को कठिन बना देता। अक्सर यह बिना उपयोग के ही रह जातीं, हालांकि इनकी आवश्यकता अत्यधिक होती। देय धनराशि के उपयोग न होने कारण आगामी वर्ष के लिए निर्दिष्ट की जाने वाली राशि में कटौती कर दी जाती।

तीसरी कमी, सर्व शिक्षा अभियान के निर्धारित कुछ मानदंड तार्किक नहीं हैं। मुख्य रूप से वित्तीय आबंटन में "समानता" सम्बन्धी वर्गीकरण ध्यान दिए जाने योग्य है। यह धनराशि वंचित संवर्गों की पहुँच शिक्षा तक बढ़ाये जाने के लिए है और यह प्रति जिले/एक करोड़ रु० के आबंटन को लेकर है। किन्तु इसके साथ इसमें संशोधन भी रखा गया है। इस आबंटित राशि का 50 प्रतिशत अकेले सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ईटीसी) पर व्यय किया जा सकता है। यह समझना अत्यंत कठिन है कि इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है? शेष 50 प्रतिशत राशि विभागीय प्रगतिशील विचारों के न आने से सामान्यतः अनुपयोगित रह जाती है। इस प्रकार, हालांकि सर्व शिक्षा अभियान द्वारा आबंटन में समानता के आधार पर कागज में सारभूत राशि आबंटित की जाती है परंतु वास्तविकता में यह अत्यंत कम ही होती है। योजनाएँ लिंग-समन्वयन, उपयुक्त प्रशिक्षण, संसाधनों की कमी, योजना निवेश की कमी से ग्रसित रहते हैं। यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार की संरचना में कमी को जन-सामान्य के समक्ष लाया जाए, चर्चा की जाए। सभी के लिए शिक्षा कार्यक्रम को जिस प्रकार क्रियान्वित किया जा रहा है यदि सुधार के दृष्टिकोण से परिवर्तन आवश्यक है तो वो परिवर्तन किया जाए।

इस खंड को समाप्त करने से पहले एसएसए कार्यक्रम के साथ दो अन्य प्रासंगिक विकास कार्यों का उल्लेख करना उचित होगा। ये है (i) डीआईएसई का विकास और (ii) एनसीएफ 2005।

(ब) शिक्षा हेतु जिला सूचना प्रणाली : जब एसएसए की शुरुआत हुई तब राष्ट्रीय स्तर पर प्राथमिक शिक्षा की प्रगति को पता लगाने हेतु एक व्यापक आंकड़ाकोश की आवश्यकता उभर का आई। इसी के साथ ही, विकेन्द्रीकृत योजना की बढ़ती मांग ने भी स्थानीय और जिला

स्तर के आंकड़ों की आवश्यकता को इंगित किया। इस प्रकार, राष्ट्रीय शैक्षणिक योजना और प्रशासन विश्वविद्यालय (एनयूईपीए) के द्वारा डीआईएसई का उभर हुआ। डीआईएसई द्वारा आंकड़ों का संग्रहन एनयूईपीए में विकसित एक डेटा कैप्चर प्रारूप के माध्यम से किया गया और देश भर के शिक्षकों द्वारा इसमें प्रवेश किया जाता है। इसने स्कूल स्तर के आंकड़ों को राष्ट्रीय स्तर के आंकड़ों में परिवर्तित कर इन आंकड़ों का उपयोग विभिन्न स्तरों पर विश्लेषण के लिए किया जा सकता है।

ये सभी प्रयास व उद्देश्य बेहद प्रसंशनीय रहे हैं किन्तु इनमें कुछ बड़ी कमियां भी रहीं। पहली कमी, कुटुंब और बच्चों के स्तर पर कोई आंकड़े एकत्र नहीं किये गए। अध्यापकों द्वारा डीआईएसई-प्रारूप में सूचनाएँ स्कूल की पंजिकाओं से प्राप्त कर भेजी गयीं। दूसरी कमी, स्कूल से बाहर रह रहे बच्चों के आंकड़ों स्कूल की उपस्थिति पंजिका के आंकड़े में नहीं थे। वास्तव में अधिकतर अनियमित बच्चों की गिनती भी स्कूल से बाहर रहने वाले बच्चों के साथ की जानी चाहिए, क्योंकि ऐसे बच्चे एक प्रकार से स्कूल त्यागने वाले या सम्भाव्य बच्चे ही हैं। तीसरी कमी, गली -मोहल्ले के बच्चे, प्रवासी बच्चे, संघर्ष क्षेत्रों में रह रहे बच्चे, और अन्य परिस्थितियों में वंचित बच्चे पूरी तरह से इसके दायरे में नहीं हैं। अंत में, सूचना की जांच में कमी, पूर्णतया अध्यापकों द्वारा एकत्रित सूचनाएं, बिना किसी सामाजिक सहभागिता की प्रक्रिया अपनाये तैयार आंकड़ों ने डीआईएसई के आंकड़ों की सत्यता पर गंभीर संदेहों को जन्म दिया।

(स) राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा - 2005

राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा एक मील का पत्थर साबित हुआ। जिस प्रकार शिक्षा को इस देश में महसूस किया गया, जिसने पाठ्यक्रम रूपरेखा के कार्यक्षेत्र को पाठ्यपुस्तक तैयार कराये जाने से लेकर शिक्षा प्राप्त करने की प्रक्रियाओं तक के व्यापक विचारों को आगे बढ़ाया।

हालांकि, शर्मा (2013) ने इंगित किया है कि "हालांकि 'सामाजिक 'संदर्भ', 'बहुलता', 'परिपेक्ष्य परिवर्तन', 'वंचितों के प्रति दृष्टिकोण' और 'आलोचनात्मक अद्ध्यापन' जैसे विचार दस्तावेज में छिटकाये गए, लेकिन वे केवल सतही तौर पर ही रहे। इसके अतिरिक्त, एनसीऍफ़ स्कूल के

अध्यापकों को भी आकर्षित न कर सकी, जैसा कि बत्रा (2005) का तर्क है, "भारतीय कक्षाओं में शिक्षकों की केंद्रीय वास्तविकता को बदले बिना स्कूल पाठ्यक्रम में किया गया बड़ा परिवर्तन शैक्षणिक प्रक्रियाओं और परिणामों को बदलने के लिए कुछ नहीं कर सकता"। इस प्रकार, हालांकि एनसीएफ ने प्रगतिशील पाठ्यक्रम विकसित करने की दिशा में एक बेहद साहसपूर्ण और बहुत जरूरी कदम उठाया है जो अभी तक संबोधित नहीं किया गया था। जबकि, शिक्षकों और उनके प्रशिक्षण के साथ महत्वपूर्ण संबंध के लिए एनसीएफ के जो किए प्रयास किए वो अभी तक कक्षाओं में अपनी जगह नहीं बना पाए, जिसके चलते एनसीएफ़ के उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकें हैं।

(द)उपलब्धियाँ : नीतियों में विरोधाभास होने और कार्यान्वयन में चूक होने के बाद भी, इस बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि सभी क्षेत्रों से आये बच्चों के शिक्षा के स्तर में सुधार हुआ है। देश के बड़े भू-भाग में जहां पर शिक्षा की सुविधाएँ नहीं थीं, वहाँ पर स्कूल उपलब्ध हो गए हैं, शिक्षा विभाग ने शिक्षा के लिए अलग से प्रशासन के दूरस्थ ब्लॉक स्तर और 73वें संविधान संशोधन के साथ पंचायत स्तर तक एक प्रशासनिक ढांचा खड़ा किया है।

आंकड़े का एक विशाल तंत्र डीआईएसई के रूप में विकसित किया, जिसमें देश भर में अनेकों स्कूलों के लिए "स्कूल रिपोर्ट कार्ड" उपलब्ध कराये गए स्कूल से संबंधित बुनियादी ढांचे, दाखिले, और अध्यापकों की नियुक्ति संबंधी आंकड़े इस रिपोर्ट कार्ड में होते हैं।

एनसीएफ ने सीखने के उस दर्शन की तस्वीर खींची है जो देश भर में ज्ञान और संस्कृति की विविधता को स्वीकारता है, जो ऐसा मजबूत आधार देता है जिससे पाठ्यपुस्तक-लेखन, मूल्यांकन-विधियों और कक्षा-संवाद हेतु उपयुक्त संरचना तैयार की जा सकती है।

लड़कियों के लिए कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालयों (केजीबीवी), जो शैक्षणिक रूप से पिछड़े ब्लॉक (ईबीबी) में लड़कियों के लिए आवासीय विद्यालय हैं, जैसे कुछ हस्तक्षेप लड़कियों को

घरेलू कामों की जिम्मेदारियों से दूर शिक्षा को जारी रखने में सक्षम बनाने में भी बहुत प्रभावी साबित हुए हैं। इसी प्रकार, दलितों के लिए अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति छात्रावास, लक्षित बच्चों के लिए सुविधाएँ मुहैया कराने में सफल साबित हुए हैं।

86वां संविधान संशोधन और उसके उपरान्त 2009 का आरटीई (शिक्षा का अधिकार) पारित होना सकारात्मक दिशा में एक बड़ा कदम है। यह न केवल बच्चों के लिए प्रारंभिक शिक्षा को मौलिक अधिकार की मान्यता देता है, बल्कि यह गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के सम्बन्ध में बच्चों के लिए न्यूनतम मानदंड भी निर्धारित करता है। शिक्षा उपलब्ध करवाए जाने के संबंध में यह लंबे समय से चली आ रही भेद करने वाली और ऊंच-नीच बरतने वाली प्रणालियों पर करारा आघात भी है।

राज्य द्वारा स्वतंत्र निगरानी तंत्र लागू करने के कई प्रयास किए गए, हालांकि वर्तमान में विभिन्न माध्यम बिना सुचारू रूप से समन्वय प्रक्रिया अपनाये सामानांतर कार्य कर रहे हैं, स्वतंत्र निगरानी तंत्र को मान्यता दिया जाना निसंदेह उचित दिशा में एक कदम है।

इनमें से कोई भी उपलब्धि निम्न नहीं कहलाई जा सकती, परंतु लगातार बनी हुई समस्याएँ विशेषकर वंचिता और असमानता से जुडी हुई, को सम्बोधित करने के लिए हर एक उपाय के लिए जरूरी है कि वह बच्चों द्वारा सामना की जा रहीं समस्या विशेष की ओर उन्मुख हो, जो लगातार गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के पूरे लाभ प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं।

4. शिक्षा का अधिकार

(अ) एक अवरोधित अधिकार

लगातार बनी खाई के मद्देनजर यह माना जाने लगा है कि भारत समय पर अपने एमडीजी दायित्वों को पूरा करने में सक्षम नहीं होगा औरप्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने की दिशा

में सार्वजनिक नीति की तरफ से बढ़ता दबाव, इस क्षेत्र में अभी तक का सबसे प्रासंगिक विकास हो सकता है। 2002 में संसद ने संविधान में 86वें संशोधन को लाते हुए यह जोड़ा कि 6 वर्ष से 14 वर्ष तक आयु के बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार, प्रत्येक बालक /बालिका का मौलिक अधिकार होगाA वास्तव में संसद ने शिक्षा के अधिकार को संविधान की धारा 21 में विस्तार देकर धारा 21(अ) - शिक्षा का अधिकार जोड़ते हुए, उसे जीने के अधिकार के समकक्ष ला दियाA इसका अनुसरण करते हुए आरटीई का प्रारूप तैयार हुआ और 27 अगस्त को यह पारित किया गया (जो 1 अप्रैल 2010 से लागू किये जाने के लिए 16 फरवरी 2010 को सूचित किया गया)

आर टी ई अधिनियम में बहुत सी मूल विशेषतायें हैं, जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है :

(1) इसने पहली बार यह निर्धारित करने का प्रयास किया कि एक नियमित स्कूल की न्यूनतम गुणवत्ता क्या होनी चाहिए? आधारभूत संरचना की बुनियादी आवश्यकताएं, अध्यापकों की योग्यता, और पाठ्यक्रम का स्वरुप और कक्षा-कक्ष के अंदर का व्यवहार (मूल्यांकन को शामिल करते हुए-लगातार और सारगर्भित मूल्यांकन - सीसीई) को अधिनियम में निरूपित किया गया।

(2) इसने शारीरिक दंड को परिभाषित करते हुए शारीरिक दंड के विभिन्न तरीकों के मध्य अंतर इसके कुप्रयोग और भेदभाव से संबंधित थे, उन सभी को गैर -क़ानूनी करार दिया।

(3) इन अधिनियम ने निजी क्षेत्र के स्कूलों पर भी गुणवत्ता के वही मापदंड लागू करते हुए इन्हें भी अपनी निगरानी के तहत रखा।

(4) इसने कक्षाओं में बहुरूपता की वृद्धि के लिए 25 प्रतिशत तक आरम्भिक कक्षाओं के दाखिले में सामाजिक तथा आर्थिक रूप से वंचित समाजों के बच्चों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की। ये सभी विशेषतायें यदि लागू की गयीं तो स्कूलों की गुणवत्ता विशेषकर सार्वजानिक

स्कूल को बदल सकतीं हैं और जीवन में सभी क्षेत्रों के बच्चों को कम से कम उत्तम किस्म की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त कराने में समर्थ बना सकतीं हैं। हालांकि यह अधिनियम पारित होने के बाद अप्रत्याशित आलोचना, निराशावाद और तो और भतर्सना का भी विषय बना। ऐसा क्यों?

पहला, निजी क्षेत्र स्तंभित है कि उच्च वर्ग के बच्चों के साथ उन्हीं की कक्षा में समाज के "कमजोर" वर्ग के बच्चों को शिक्षा के अवसर दिए जायँ। इसे लेकर वे इतने भयावह है कि वे इस विषय को न्यायलय में यह कहते हुए के गए कि व्यापार को चलाने के लिए संविधान में व्यक्ति को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। इस मामले ने कई मूल प्रश्नों को जन्म दिया मसलन, जिस रूप में शिक्षा को देखा जा रहा है और संवैधानिक सिद्धांतों को इस प्रकार की क़ानूनी स्थिति से चुनौती मिल रही है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि न केवल प्रारंभिक शिक्षा के विचार को सार्वजानिक हित मानकर दोहराया जाए, बल्कि इस संबंध में देश की न्याय व्यवस्था निजी क्षेत्र के लिए भी समान रूप से लागू की जाए।

दूसरा, वंचित रह गए समूहों के बच्चों के लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं रखी गयी है, जैसे गली-मोहल्ले के बच्चे, प्रवासी तथा खानाबदोश और संघर्ष क्षेत्र में रह रहे बच्चे। इन बच्चों को शिक्षा तक पहुँच बनाये रखने के लिए खास दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इस पर ध्यान दिया जाना आवश्यक था और अभी भी आवश्यक है कि राज्यों के कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था होनी थी, किन्तु किसी भी राज्य में कोई नियम या दिशा निर्देश तैयार नहीं किये गए हैं, जो विशिष्ट रूप से दूसरे प्रकार के बच्चों के वर्ग को देखते हों।

तीसरा, अधिनियम को स्कूल जाने के अधिकार के रूप में कहा गया, न कि शिक्षा के अधिकार के लिए, यह दावा कि इसमें शिक्षण कार्य के मापदंडों की अपेक्षा बुनियादी ढांचे पर अधिक जोर दिया गया है, हालांकि यह सत्य नहीं है, क्योंकि बहुत से प्रावधान अधिनियम में स्पष्ट रूप से अध्ध्यन के पक्ष में हैं जैसे अध्यापकों की योग्यता, सीसीई, शारीरिक सजा की मनाही, भेद-भाव की मनाही और संविधान के मूल्यों के आधार पर पाठ्यक्रम,। ये सभी बातें उचित है परंतु ये प्राविधान अपने सही क्रियान्वयन की दिशा में

संसाधनों, प्रशिक्षण और बहुत से अन्य प्रयासों की मांग करते हैं, जो वर्तमान में प्राप्त होते नहीं दिखाई देते। यह एक गंभीर चिंता और क्रियान्वयन व अधिनियन के प्रवर्तन की आलोचना का विषय है। इसी के साथ यह कहा जा सकता है कि अधिनियम में या 'नियमावली' में अध्ध्यन के लिए कुछ प्रक्रियाएं मापदंड निर्धारण के सम्बन्ध में संभवतः स्थापित की जा सकती हैं।

(बी) मूल-सिद्धांतों बिना एक अधिकार

संभवतः आरटीई अधिनियम ने जिस सबसे बड़ी चुनौती का सामना किया वह यह कि तात्विक रूप से जिस प्रकार इस अधिनियम को लागू करने वालों द्वारा प्रारंभिक शिक्षा को समझा गया, उसको परिवर्तित नहीं किया जा सका। हकीकत यह है कि इस योजना को लागू करने का उत्तरदायित्व जिन लोगों को दिया गया था, वो यह नहीं समझ सकें कि वो बच्चे जो अभी तक स्कूल की पहुँच तक नहीं हैं, या जिन पर स्कूल छोड़ने का दबाव पड़ रहा है या जो ठीक तरीके से पढ़ाई नहीं कर पा रहे हैं यह योजना के क्रियान्वयन की कमी नहीं है, बल्कि यह उनके मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है।

इस कार्य की भयावहता और इसकी जटिलता की समझ न होने की स्थिति इस तथ्य से उजागर होती है कि आरटीई के अंतर्गत वित्तीय आवश्यकताओं के वास्तविक अनुमान अभी तक लगाये जाने हैं। इसके अतिरिक्त, शिक्षा का पुनर्निर्माण करने और अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए वृहत निवेश की आवश्यकता है जिसके लिए अधिनियम में दिए गए मानदंडों का अनुपालन अभी तक आरम्भ नहीं किया जा सका है। इसी प्रकार वंचित और हाशिये पर रखे गए बच्चों, मुख्य धारा में रह रहे और स्कूल त्याग रहे बच्चों के लिए विशेष व्यवस्था हेतु ध्यान दिए जाने की विशेष जरूरत है। जिस पर अधिनियम के प्रभावी होने के चार वर्ष बाद तक असावधानी बरती गयी।

क़ानूनी लक्ष्यार्थ होते हुए भी शिक्षा विभाग के अंतर्गत कोई जवाबदेही नियत नहीं की गयी, जो आने वाली शिकायतों का संज्ञान ले सके। अधिनियम के अंतर्गत मिले अधिकारों पर हक़ जताने के लिए लोगों की शिकायतों को दुरुस्त करने के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाये गए। किसी प्रकार का प्रचार या जागरूकता लाने के प्रयास नहीं किये गए ताकि लोगों को उनके अधिकार और हक़ की सूचना दी जा सके। अंतिम तौर पर ये सब यह दर्शाता है कि महत्वपूर्ण संवैधानिक जनादेश की पूर्ति के लिए राजनैतिक और प्रशासनिक इच्छा की कमी रही।

आरटीई अधिनियम पर निजी स्कूलों और कुछ अन्य समूहों, जो अल्प्संखयक समूहों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, के द्वारा किये गए हमलों ने अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के अधिनियम की परिधि से दुर्भाग्यपूर्ण वंचितीकरण की अगुवाई की जैसा कि संविधान में उनसे वादा किया गया है कि वे अपनी संस्थाएं चला सकते हैं, न्यायलय ने इस विशेषाधिकार का अर्थ एक प्रकार से तंग दृष्टि से लगा लिया जिससे अल्पसंख्यक संस्थाओं को क़ानूनी स्वतंत्रता आरटीई की आवश्यकताओं को पूर्ण करने से मिल गयी। इसने आरटीई के एक और पहलू अर्थात समन्वय के विचार पर गहरा आघात किया।

अंत में, पंचायती राज संस्थाओं और 75 प्रतिशत अभिवावकों की सदस्यता से बनी स्कूल प्रबंधक समितियों को अधिक अधिकार देकर यह अधिनियम विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देता है। हालांकि अधिनियम की इन धाराओं पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। यह लापरवाही एक बार फिर अधिनियम को उसकी मूल भावना के साथ लागू करने में राजनैतिक और प्रशासनिक इच्छा की कमी दिखाती है, साथ ही आज वो वर्ग जो सार्वजनिक स्कूलों के सही मायने में संरक्षक हैं अर्थात गरीब और वंचित वर्ग के स्तर सुधारने की दिशा में हो रही लापरवाही को भी उजागर करती है।

निष्कर्ष -

(अ) सकारात्मक पक्ष

परिणाम-स्वरुप, भारत की शिक्षा नीति के बारे में जो कहा जा सकता है वह यह है कि इसके द्वारा सामाजिक और आर्थिक तौर पर वंचित वर्गों को शामिल करते हुए, अधिकांश लोगों तक स्कूल की वास्तविक पहुँच में वृद्धि लाये जाने का कुछ रास्ता तय किया गया है।

इस व्यवस्था ने पाठ्यक्रम की रूप रेखा तैयार करने में एक बड़ी छलांग लगायी है जो संवैधानिक मूल्यों, प्रगतिशील दृष्टिकोण और रचनात्मक सिद्धांतों को प्रतिबिंबित करता है। इस प्रयास के लिए जो पूर्व तैयारी की गयी, उसने वंचितों की पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों के मन से स्कूल में अनुभव किये जाने वाले विरक्ति के भाव को मिटाने का रास्ता खोल दिए है।

स्कूल स्तर पर स्वतंत्र निगरानी की मान्यता के आधारभूत चिन्ह के रूप में राष्ट्रीय आंकड़ा-कोष, विकेंद्रीकरण की आवश्यकता और सबके ऊपर मौलिक अधिकार के ढांचे के विकास ने स्कूली पहुँच से दूर बच्चों तक पहुँच की सम्भावना बढ़ा दी और उनको मुख्य धारा में लाये जाने के तरीके और साधन तैयार कर दिए है।

(ब) शिक्षा प्रणाली में, प्रणाली से और प्रणाली द्वारा अपवर्जन को समाप्त करना ---

स्कूलों में वास्तविक रूप से छात्रों की संख्या बढ़ाये जाने पर ज्याद ध्यान दिए जाने का कार्य, वंचित समूहों की विशेष समस्याओं या गुणवत्ता पर पर्याप्त ध्यान न दिए जाने के बाद भी होता रहा। इसका असंतुलित प्रभाव आर्थिक और सामाजिक रूप से वंचित हो गए परिवारों के बच्चों को मिलने वाली सुविधाओं पर पड़ा जो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पाने से वंचित रह गए और आगे बढ़ने का अवसर न पा सके।

बहिष्कार, भेदभाव और हाशिए के सामाजिक पहलुओं पर जानकारी इकट्ठा करने में असमर्थता या अनिच्छा ने नीति निर्माताओं की उस क्षमता को प्रभावित किया जो हाशिएकरण के कारणों जानने, दूर करने और व्यवस्थित रूप से निपटने में मदद कर सकती थी। इसलिए, बहिष्कृत वर्गों के बच्चे, जिनके पास स्कूलों तक पहुंच है, वे इस पहुँच के बावजूद अभी भी सिस्टम में खुद को बहिष्कृत महसूस करते है क्योंकि कक्षा-कक्ष अभ्यास इस बहिष्कीकरण जारी रखता है और कई अन्य कारण उन्हें स्कूल छोड़ने के लिए मजबूर करते हैं।

इसके अतिरिक्त, पहुँच बढ़ जाने के बाद भी, बहुत से वर्गों के बच्चे पूरी तरह प्रणाली से पृथक रह गए मसलन, गली-मोहल्ले के बच्चे और आश्रयहीन बच्चे, प्रवासी परिवारों के बच्चे, खानाबदोश समाजों के बच्चे, कानून के साथ संघर्षरत परिवारों के बच्चे, संघर्षरत क्षेत्रों में रह रहे बच्चे, एचआईवी से पीड़ित बच्चे, या एचआईवी से ग्रसित माता-पिता के बच्चे, वैश्यावृत्ति में लगे लोगों के बच्चे और बाल-वैश्यावृत्ति में संलिप्त बच्चे।

अंत में, इस क्षेत्र को प्राथमिकता में दी गयी कमी जिसे इसकी वित्तीय वचनबध्ता से देखा जा सकता है, ने उपलब्धि की रफ़्तार को बहुत संकुचित बना दिया है। दुर्भाग्यवश, आरटीआई अधिनियम के पारित होने के बाद भी आवश्यक वित्तीय मदद, मानवश्रम, और प्रशासनिक संसाधनों को लेकर मिलनी वाली वचनबद्धता की कमी आज भी बनी हुई है। प्रणाली द्वारा इस प्रकार का अपवर्जन एक गंभीर समस्या है जो तत्काल व गंभीर सुधार की मांग करता है।

(ग) प्राथमिक शिक्षा जन-हित में और जनादेशित प्रावधान है: विशेष रूप से सीखने की उपलब्धियों के संदर्भ में सरकारी स्कूलों में खराब गुणवत्ता की व्यापक स्वीकृति ने सार्वजनिक स्कूल प्रणाली की अस्वीकृति में बड़ा योगदान दिया है। यहाँ तक की राजकीय तंत्र ने भी अपने हाथ खड़े कर लिए और निजी क्षेत्र की ओर समाधान हेतु शासकीय-निजी सहभागिता के जरिये प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देखने लगा।

यह एक प्रकार से शासन के भीतर अंतर्विरोधी क्रिया है क्योंकि यह प्रारंभिक शिक्षा के मौलिक अधिकार के रूप में स्थापित किये जाने की अपनी ही पहल के विपरीत है, जो राज्य पर प्रारंभिक शिक्षा की समुचित जिम्मेवारी रखता है। दुर्भाग्य से, समाज के विभिन्न वर्गों के बीच भारी मत-भेद को पाटने हेतु आरटीई अधिनियम की व्यवस्थाओं के विरोध को न्यायिक व्यवस्था में तथा नीतिगत स्तर पर लड़ा जा रहा है। जबकि उच्चतम न्यायालय ने शिक्षा के संवैधानिक विचार को सार्वजानिक हित में मान लिया है, इसने अल्पसंख्यकों द्वारा चलायी जा रही संस्थाओं को अपने कार्य क्षेत्र से बाहर करके दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से अधिनियम को कमजोर कर दिया और देश के सभी नागरिकों को शिक्षा प्रदान करने के एक मजबूत अवसर को खो दिया। न्यायालय की इस स्थिति को चुनौती देने वाली एक एक समीक्षा याचिका को एक सदस्यीय संवैधानिक खंडपीठ द्वारा सुनाया जा रहा है। केवल आशा की जा सकती है कि न्यायालय इस अवसर का उपयोग, शिक्षा के अधिकार की संवैधानिक असंग्दिग्ध सहमति को और राष्ट्र के इस सम्बन्ध में किरदार को पुन: रस्थापित करेगा और एक कठोर सन्देश, न केवल निजी संस्थाओं को, बल्कि इस मौलिक अधिकार को लागू करने की शासन की प्रशासनिक इकाई को भी देगा।

न्यायालय की इस स्थिति को चुनौती देने वाली एक समीक्षा याचिका को एक सदस्यीय संवैधानिक खंडपीठ द्वारा सुनाया जा रहा है। कोई केवल अब यही उम्मीद कर सकता है कि न्यायालय इस अवसर का प्रयोग शिक्षा के अधिकार की स्पष्ट रूप से संवैधानिक समझ को पुनः प्राप्त करने के लिए करें और इसे प्रदान करने में राज्य की भूमिका को रेखांकित करें व न केवल निजी संस्थाओं को, बल्कि इस मौलिक अधिकार को लागू करने के सरकार की कार्यकारी शाखा के लिए भी एक मजबूत संदेश प्रेषित करें।

नोट्स

1. ह्यूमन डेवलपमेंट इन इंडिया : चेलेन्जास फॉर ए सोसाइटी इन ट्रांजिशन (2010), ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।
2. सामाजिक सिद्धांत ''कल्चर्स ऑफ पॉवर्टी'' (ऑस्कर लेविस 1959), जो आज की शिक्षा व्यवस्था से मेल खाता है।
3. ये थे – (प) वुड डिस्पैच 1854; (पप) इण्यिन एजूकेशन कमीशन (या हण्टर कमीशन); (पपप) यूनिवर्सिटी कमीशन, 1902; (पअ) सैडलर कमीशन, 1917 (अ) हार्टोग कमीशन, 1929; (अप) सप्रू कमीशन, 1934; (अपप) एबोट–बुड्स रिपोर्ट, 1936–37; (अपपप) सर्जिण्अ रिपोर्ट; (पग) यूनिवर्सिटी कमीशन, 1948; (ग) मुदलियार कमीशन, 1952।
4. आयोग यह बताता है कि ''संगीत, कला, चित्रकारी आदि विषयों पर ध्यान देना चाहिए जो लड़कियों को आकर्षित करते हैं।''
5. यह एन. पी. डी. 1986, एम. एच. आर. डी. में मान लिया गया हैं।
6. जेंडर खण्ड सोशल इक्विटी इन प्राइमरी एजूकेशन : हेरार्कीस ऑफ एक्सेस, विमला रामचन्द्रन (2003)।
7. केन्द्रीय विद्यालयों में केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के बच्चों के **समृद्ध** प्रबंध **व वित्तीय मदद मिलती है। ये भी भारत में सरकारी स्कूली व्यवस्था के एक** दोहरे मापदण्ड **का दूसरा उदाहरण है**।
8. अंबरीश डोंगरे, ''वाट इस द पर चाइल्ड एक्सपेंडिचर इन गवर्नमेंट स्कूल ? एकाउंटबिलटी इनीशिएटिव (2012)।
9. क्वालिटी इंडिया (विशेषांक) – गुणवत्तापरक शिक्षा पर सरकार का प्रयास–साक्षात्कार, मानव संसाधन मंत्री, कपिल सिब्बल।
10. आर. टी. ई. में समावेशन से यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक बच्चे में योग्यता है। तथाकथित कुशल बच्चों के लिए अलग से प्रावधान समानता के अधिकार के खिलाप है।
11. राज्य स्तर पर एम. आई. केन्द्र स्तर पर जे. आर. एम., शिक्षा के क्षेत्र में बी. आर. सी./सी. आर. सी.।
12. आर्. टी. ई. के लागू होने से पहले यह अनुपात केन्द्र–राज्य 55–45 या जो बाद में 65–35 निर्धारित हुआ।
13. डिपार्टमेंट ऑफ एजूकेशन, एस. एस. ए. : ए. फ्रेमवर्क (2011)।
14. नेशनल यूनिवर्सिटी फॉर एजूकेशन प्लानिंग 2005 एडमिनिस्ट्रेशन।
15. एस. बालगोपाल : रेशनलाइजिंग सेक्युज़न वी. रामचंद्रन (2009) : टुवर्डस जेंडर इक्वेलिटी इन एजूकेशन।
16. एम. सेडवाल और एस. कामत (2008), एजूकेशन ऐण्ड सोशल इक्विटी विद ए स्पेशल फोकस ऑन शेड्यूल्स कास्ट ऐण्ड शेड्यूल्ड ट्राइब्स इन एलिमेंट्री एजूकेशन।

17. संशोधन से पहले शिक्षा नीति निदेशक तत्वों में **शामिल मसला था।** जिसके कारण इसको उपलब्ध कराने में राज्य पर कोई भी कानूनी बाध्यता नहीं थी।

18. गुणवत्ता संबंधी नियम में यह प्रावधान होता है कि कोई विद्यालय कितनी अधिकतम सुविधाएं देगा। जो विद्यालय अधिनियम के तहत् सुविधाए नहीं दिला पाता उसकी मान्यता नहीं मिलती।

19. अधिनियम की अनुसूचियों का वर्णन – सेक्शन 23, 24, 29 आदि।

20. आर. टी. ई. के समर्थन में निर्णय के बाद निजी विद्यालयों के समूह ने एक पुनर्विचार याचिका डाली है।

21. बेहतर प्रबंधन के माध्यम से शिक्षा संबंधी सुधारों को त्वरित गति से करने में सफलता प्राप्त की, जैसे हिमाचल प्रदेश।

<u>संदर्भ सूची</u>

- बत्तरा, पूनम (2005) – ''वोइस ऐण्ड एजेन्सी ऑफ टीचर्स : मिसिंग लिंक इन नेशनल करीकुलम फ्रेमवर्क 2005''
- लेविस, ऑस्कर (1959) – फाइव फेमलीज़ : मेक्सिकप केस स्टडीज़ इन द कल्चर ऑफ पॉवर्टी।
- एन. पी. ई. (1968–1986) – नेशनल पॉलिसी ऑफ एजूकेशन, डिपार्टमेंट ऑफ एजूकेशन, एम. एच. आर. डी. , गवर्नमेंट ऑफ इंडिया।
- शर्मा, गुंजन (2013) – ''एक्सक्लूज़न ऐण्ड स्कूल करीकुलम : ए ग्लिम्प्स ऑफ टेक्स्टबुक रिन्यूवल इन इंडिया''।

सुजाथा, के. (2002) – ''एजूकेशन एमंग द शेड्यूल्ड कास्ट'' इन इंडिया एजूकेशन रिपोर्ट : ए प्रोफाइल ऑफ बेसिक एजूकेशन, सी. ई. डी.''।